ॐ

नक्शों में दशकरण

(जीव जीता–कर्म हारा)

लेखक एवं सम्पादक :
ब्र. यशपाल जैन, एम.ए., जयपुर

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए–४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५
फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८
फैक्स : २७०४१२७, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : १,०००
२६ जनवरी २०१३

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. गुप्तदान, भोपाल	३,०००
कुल योग	३,०००

मूल्य :
६ रुपये

टाइपसैटिंग
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-४, बापूनगर
जयपुर

मुद्रक :
श्री प्रिन्टर्स
मालवीयनगर,
जयपुर

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
● प्रकाशकीय	३
● मनोगत	४
● नक्शों में दशकरण	७
१. बंधकरण	८
२. सत्त्वकरण	१५
३-४. उदय-उदीरणाकरण	१७
५. उत्कर्षण	२०
६. अपकर्षण	२२
७. संक्रमण	२३
८. उपशांतकरण	२४
९. निधत्तिकरण	२६
१०. निकाचितकरण	२९

smarak 3\ D\Kailash\Data Annanji/Adhyatmik Daskaran Book

प्रकाशकीय

ब्र. यशपालजी द्वारा लिखित एवं संपादित 'नक्शों में दशकरण' (जीव जीता कर्म हारा) यह नवीनतम कृति प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। कर्म की दश अवस्थाओं को नक्शों के द्वारा ज्ञान कराने का यह प्रयास नया ही प्रयोग है। यह प्रयोग सफल ही होगा; ऐसा हमें विश्वास है।

ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष जयपुर में आयोजित होनेवाले पंद्रह दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर करणानुयोग संबंधी प्रारम्भिक ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार के गुणस्थान प्रकरण की कक्षा ब्र. यशपालजी जैन द्वारा ली जाती है। उस समय कक्षा में बैठनेवाले भाइयों को इस विषय को समझने में जो बाधाएँ आती थीं, वे मुख्यत: करणानुयोग की पारिभाषिक शब्दावली से संबंधित रहती हैं।

श्री टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के शास्त्री प्रथम वर्ष के अभ्यासक्रम में गुणस्थान-विवेचन की पुस्तक पढ़ायी जाती है। पढ़ाने का कार्य भी प्रारंभ से ही ब्र. यशपालजी ही करते आ रहे हैं। अब विद्यार्थियों को कर्म की दश अवस्थाओं को समझना और समझाना दोनों सुलभ हो जायेंगे। अनेक स्थान पर मुमुक्षु मण्डल के शास्त्र सभा में भी गुणस्थान पढ़ाया जाता है। वहाँ भी कर्म की दश अवस्थाओं का समझाना सहज होगा; ऐसा हमें विश्वास है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का यथार्थ ज्ञान करने के लिए इन दश करणों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस पुस्तक से एक कमी की पूर्ति हो रही है; इसका हमें हार्दिक आनन्द है।

प्रयोजनभूत सात तत्त्वों के ज्ञान करते समय बंधकरण एवं बंधतत्त्व का ज्ञान करने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

ब्र. यशपालजी चारों अनुयोगों के संतुलित अध्येता एवं वैराग्य-रस से भीगे हृदयवाले आत्मार्थी विद्वान् हैं। टोडरमल स्मारक भवन में संचालित होने वाली प्रत्येक गतिविधि में आपका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध से आप बारम्बार प्रवचनार्थ भी अनेक स्थानों पर जाते रहते हैं।

आपने गोम्मटसार जीवकाण्ड की टोडरमलजी रचित (सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका) टीका का सम्पादन का कार्य अत्यन्त श्रम एवं एकाग्रतापूर्वक किया है तथा इस संपादन कार्य से प्राप्त अनुभव का भरपूर उपयोग करते हुए प्रस्तुत कृति तैयार की है; अत: ट्रस्ट आपका हार्दिक आभारी है।

नक्शों को तैयार करने का कष्टसाध्य कार्य श्री कैलाशचन्दजी शर्मा ने किया है। अतः उन्हें और दानदातारों को भी संस्था धन्यवाद देती है।

इस पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, अत: वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक आप सभी आत्मार्थियों को कल्याणकारी हो ह्न इसी भावना के साथ।

ह्न डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

मनोगत

मुझे विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग सम्बन्धित ''गुणस्थान'' विषय के आधार से कक्षा लेने का सौभाग्य विभिन्न शिक्षण शिविरों के माध्यम से मिल रहा है।

प्रारम्भ में तो मात्र श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा जयपुर में आयोजित शिविरों में ही यह कक्षा चला करती थी; लेकिन श्रोताओं की बढ़ती हुई जिज्ञासा एवं माँग को देखते हुए अब प्रत्येक शिविर की यह एक अनिवार्य कक्षा बनी हुई है।

मैं प्रवचनार्थ जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ गुणस्थान प्रकरण को समझाने का आग्रह होने लगता है। श्रोताओं की इसप्रकार की विशेष जिज्ञासा ने मुझे इस विषय की ओर अधिक अध्ययन हेतु प्रेरित किया है।

गुणस्थानों को पढ़ाते समय कर्म की बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि अवस्थाओं को समझाना प्रासंगिक होता है।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं को करण कहते हैं। इन दसकरणों को समझाते समय मुझे प्रतीत हुआ कि इस संबंध में स्पष्ट और अधिक ज्ञान मुझे करना आवश्यक है।

अनेक विद्वानों से चर्चा करने पर किंचित समाधान भी होता था; फिर भी कुछ अस्पष्टता बनी रहती थी। इसकारण पुनः पुनः दशकरणों को सूक्ष्मता से समझने का मैं प्रयास करता रहा। उस प्रयास की यह परिणति दशकरण की कृति है।

अभी भी मैं कुछ सूक्ष्म विषयों में निर्मलता चाहता हूँ। हो सकता है, यह कृति करणानुयोग के अभ्यासी विद्वानों के अध्ययन का विषय बनेगी तब वे मुझे समझायेंगे तो मुझे लाभ ही होगा। मुझे आशा है विद्वत् वर्ग मुझे अवश्य सहयोग देगा।

smarak 3\ D\Kailash\Data Annanji/Adhyatmik Daskaran Book

१. दस करणों को समझने के प्रयास के काल में मैंने भीण्डर निवासी पण्डित श्री जवाहरलालजी की कृति **करणदशक** देखी।

२. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** की हिन्दी टीकाएँ, जो अनेक संस्थाओं से एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपादित हैं ह्न उनको भी देखा।

३. दस करणों को समझने के लोभ से ही दसकरणों के संबंध में पुराने विद्वानों ने जो स्वतंत्र लेखन किया है, उसे भी देखा ह्न उनमें **सुद्दष्टितरंगिणी** एवं **भावदीपिका** भी सम्मिलित है।

४. आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि की कृति **कर्मविज्ञान** से भी लाभ लिया है।

५. ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का **कर्मरहस्य, कर्मसिद्धान्त, कर्मसंस्कार** आदि का अच्छा लाभ मिला है।

६. पण्डित कैलाशचन्दजी बनारसवालों के **करणानुयोग प्रवेशिका** का भी उपयोग किया है।

करणानुयोग का कर्म विषय ही ऐसा है, जिसे यथार्थरूप से तो सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं। इस कारण ही कुछ विषयों को लेकर बड़े-बड़े आचार्यों में भी मतभेद पाया जाता है। वे भी क्या कर सकते हैं? जिनको अपनी गुरु परंपरा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्होंने उसी को स्वीकार किया।

जीवादि सात तत्त्वों में ऐसा मतभेद नहीं होता; क्योंकि सप्त तत्त्व तो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं और उनका कथन स्पष्ट है। उनके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

मेरे जीवन का बहुभाग धर्म के अध्ययन और अध्यापन में ही गया है; तथापि **अनेक वर्षों तक कर्म बलवान है, इस धारणा ने मुझे अत्यन्त परेशान किया था। ऐसी परेशानी अन्य साधर्मी को न हो; इस भावना से भी मैंने बुद्धिपूर्वक इस कृति के प्रकाशन में रस लिया है।**

एक दृष्टि से धर्मज्ञान के क्षेत्र में जो मैं समझ पाया, उसी का ही चित्रण इस कृति में है, कपोल-कल्पित कुछ नहीं है। **मैं धर्मक्षेत्र में कपोल-कल्पित विषय को स्वीकार करना भी नहीं चाहता; क्योंकि वह उचित भी नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार जो है, वही मान्य है।**

मैं अपना भाव स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा अध्ययन तो विशेष नहीं है तो भी **मैंने मात्र अपने उपयोग को निर्मल रखने के लिए तथा तत्त्वनिर्णय में अनुकूलता बनी रहे, इस धर्मभावना से दशकरणों के संबंध में कुछ लिखने का प्रयास किया है।** विज्ञ पाठक गलतियों की क्षमा करेंगे और मुझे मार्गदर्शन करेंगे। ऐसी अपेक्षा करता हूँ।

इस कृति को यथार्थ बनाने की भावना से मैंने अनेक लोगों को इसे दिखाया है और उनके सुझावों का लाभ भी उठाया है। उनमें पं. राजमलजी भोपाल, पं. प्रकाशजी छाबड़ा इन्दौर, विदुषी विजया भिसीकर कारंजा, पं. जीवेन्द्रजी जड़े, बाहुबली (कुंभोज), ब्र. विमलाबेन जबलपुर, ब्र. कल्पनाबेन सागर एवं अरुणकुमार जैन अलवर हैं। मैं इन सबका हृदय से आभार मानता हूँ। इनके सहयोग के बिना इस कृति का प्रकाशन संभव नहीं था।

साधर्मी इस कृति से लाभ उठा लेंगे, ऐसी अपेक्षा है। जिनागम के अभ्यासु पाठकगण इस कृति का अवलोकन करके मुझे आगम के आधार से मार्गदर्शन करेंगे ही यह भावना है।

दशकरण विषय को विशेष विस्तार के साथ जानने की जिनकी भावना हो, वे जीव जीता-कर्म हारा (अर्थात् दशकरण चर्चा) पुस्तक का जरूर अध्ययन करे। यह कृति मेरी ही है और श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने ही इसे प्रकाशित किया है।

– ब्र. यशपाल जैन

नक्शों में दशकरण

दशकरण चर्चा पुस्तक लिखने के समय से लेकर एक विषय मुझे बारंबार सताता रहा कि दशकरणों को कक्षा में बोर्ड के माध्यम से नक्शे के द्वारा समझाना कैसे बनेगा? अनेकों से पूछा भी; तथापि कुछ समाधानकारक उत्तर नहीं मिला। मैंने स्वयं ही अनेक प्रकार के नक्शे बनाने का प्रयास किया। अनेक लोगों को बताया/दिखाया।

मुझे नक्शे के द्वारा समझाने का परिणाम तीव्र होता रहा। एक बार दसों करणों का सामान्य नक्शा बनाया भी; तथापि वे सब नक्शे खो गये। एक बार मन में ऐसा भी विचार आया कि छोड़ दो इस नक्शे के विषय को।

क्या बताऊँ मैं अपने परिणामों को? जैसे-जैसे नक्शे को बनाने के विषय को छोड़ने का निर्णय करता गया वैसे-वैसे वह विषय मेरे मन में और गहराई में बैठ गया। रात्रि में नींद टूटने के बाद भी नक्शा तो बनाना ही चाहिए – यही विषय ऊर्ध्व होता रहा।

फिर नक्शा बनाने का मानस बनाया। इसी क्रम में मुझे कारंजा (जि. अकोला, महाराष्ट्र) से मराठी में प्रकाशित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मिली; जिसका संपादन विदुषी श्रीमती विजया अजितकुमारजी भिसीकर ने किया है। उसमें उदय-उदीरणा, उत्कर्षण के कुछ नक्शे मिले। इनसे मुझे मार्गदर्शन मिला। उनका आधार लेकर मैंने दसों करणों का नक्शा बना तो दिया है; तथापि कोई साधर्मी इन नक्शों को इससे भी बढ़िया या सर्वोत्तम बनाने में मार्गदर्शन करेंगे तो मैं उनका स्वागत ही करूँगा। बंध और सत्त्व के चित्र श्री गणेशवायकोस, औरंगाबाद ने बनाया है।

दशकरण का विषय पाठकों को कितना समझ में आयेगा अथवा नहीं आयेगा, इसे गौण करते हुए मैं सोचता हूँ तो मुझे हार्दिक समाधान है कि मुझे व्यक्तिगत बहुत-बहुत लाभ हुआ है। भविष्य में भी मैं यह आशा रखता हूँ कि यह विषय मुझे और अधिक स्पष्ट हो जावें।

– ब्र. यशपाल जैन

१ बंधकरण

- **कर्म की विशिष्ट अवस्था को करण कहते हैं।**
- कर्म की १० अवस्थाओं में **बंधकरण** प्रथम अवस्था है।
- संसारी जीव को कर्म का बंध अनादि से है।

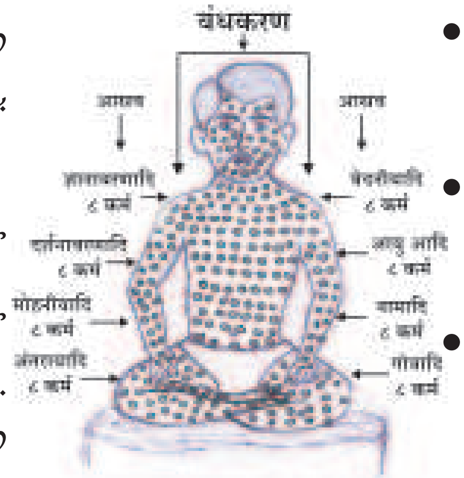

- चित्र में आस्रवपूर्वक कर्म का बंध दिखाया है।
- मनुष्य के शरीर पर जो गोले दिखाये हैं, उन्हें कर्म-स्कन्ध समझना है।

- संसारी जीव प्रति समय अनंत कर्म-परमाणुओं को बाँधता है।
- **कर्मबंध के काल में भी आत्मा स्वरूप से अबंध /मुक्त स्वभावी ही है।**
- आठों कर्मों में वेदनीय कर्म को सबसे अधिक कर्म-परमाणु मिलते हैं।
- दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।
- आयुकर्म का बंध, अप्रमत्तविरत नामक ७वें गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं।
- अभेद विवक्षा में बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं।
- प्रकृति, आदि चारों प्रकार का बंध एकसाथ होता है।
- सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृति नामक कर्म का बंध नहीं होता।
- अयोगकेवली को कोई/किसी भी कर्म का बंध नहीं होता।
- तिर्यंच जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता।
- कर्म का बंध होते ही वह कर्म, तत्काल फल नहीं दे सकता। आबाधाकाल बीतने के बाद ही कर्म, फल देता है।

- जीव के मोह-राग-द्वेषरूप विकारी परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्मणवर्गणारूप पुद्‌गलस्कन्ध की विशिष्ट अवस्था को **कर्म** कहते हैं। कर्म के ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं।
- जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट (परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप) संश्लेष संबंध को **बंध** कहते हैं।
- **मोही जीव को ही कर्म का सतत बंध होता है।**
- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय परिणामों को **मोह** कहते हैं।
- मात्र योग से केवल ईर्यापथास्रव होता है, जो एक समय का रहता है।
- कर्मबंध के चार भेद हैं – १. प्रकृतिबंध २. प्रदेशबंध ३. स्थितिबंध ४. अनुभागबंध।
- कर्म के स्वभाव को **प्रकृतिबंध** कहते हैं।
- कर्मरूप परिणमित पुद्‌गल – परमाणुओं की संख्या को **प्रदेशबंध** कहते हैं।
- कर्म की कालावधि के बंधन को **स्थितिबंध** कहते हैं।
- कर्म की फलदान शक्ति को **अनुभागबंध** कहते हैं।
- **योग से** प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं।
- **मिथ्यात्वादि कषाय** पर्यंत के भावों से स्थितिबंध और अनुभागबंध होते हैं।
- **बँधावस्था में स्थित कर्म/सत्ता में स्थित कर्म जीव को फल नहीं देता।**
- अनुभाग बंध ही उदय-काल में फल देने का काम करता है।
- विपरीत मान्यता को **मिथ्यात्व** कहते हैं।
- हिंसादि पाँचों पापों में प्रवृत्ति को **अविरति** कहते हैं।
- क्रोधादि दुःखद विकारी परिणामों/भावों को **कषाय** कहते हैं।
- आत्मप्रदेशों की चंचलता को **योग** कहते हैं।

बंध के अनेक भेद

*ई. सं. १९४७ में प्रकाशित धवला पुस्तक ८ के **विषय परिचय** विभाग में आया हुआ निम्न अंश उपयोगी जानकर उसे **आगे** दिया है –*

''**सान्तरबन्धी** – एक समय बंधकर द्वितीय समय में जिनका बन्ध विश्रान्त हो जाता है। वे **सान्तरबन्धी प्रकृतियाँ** हैं; वे **३४** हैं –

असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरकगति, एकेन्द्रियादि ४ जाति, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़ शेष ५ संस्थान, वज्रर्षभनाराच-संहनन को छोड़ शेष ५ संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशकीर्ति।

निरन्तरबन्धी – जो प्रकृतियाँ जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर रूप से बंधती हैं, वे **निरन्तरबन्धी** हैं। वे **५४** हैं –

ध्रुवबन्धी ४७, आयु ४, तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारकशरीरांगोपांग।

सान्तर-निरन्तरबन्धी – जो जघन्य से एक समय और उत्कर्षतः एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के आगे भी बंधती रहती हैं वे **सान्तर-निरन्तरबन्धी प्रकृतियाँ** हैं। वे **३२** हैं –

सातावेदनीय, पुरुषवेद, हास्य, रति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभसंहनन, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ-शुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीचगोत्र और ऊँचगोत्र।

सादिबन्ध – विवक्षित प्रकृति के बन्ध का एक बार व्युच्छेद हो

जाने पर जो उपशमश्रेणी से भ्रष्ट हुए जीव के पुनः उसका बन्ध प्रारंभ हो जाता है, वह **सादि बन्ध** है। जैसे – उपशान्तकषाय गुणस्थान से भ्रष्ट होकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

अनादिबन्ध – विवक्षित कर्म के बन्ध के व्युच्छित्तिस्थान को नहीं प्राप्त हुए जीव के जो उसका बन्ध होता है वह **अनादि बन्ध** कहा जाता है। जैसे – अपने बन्धव्युच्छित्तिस्थान रूप सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय से नीचे सर्वत्र ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

ध्रुवबन्ध – अभव्य जीवों के जो ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह अनादि-अनन्त होने से **ध्रुवबन्ध** कहलाता है।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ४७ हैं – ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, **१६** कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अन्तराय।

अध्रुवबन्ध – भव्य जीवों के जो कर्मबन्ध होता है वह विनश्वर होने से अध्रुवबन्ध है।

अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ – ध्रुवबन्धी प्रकृतियों से शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धी है।

इनमें ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकार तथा शेष प्रकृतियों का सादि व अध्रुवबन्ध ही होता है।''

●

> वहाँ सबसे पहले पूरे प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।।२१।। **–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**

ज्ञानावरणकर्म का बंध

(उदाहरण)

- एक समय में अनंत कर्म–परमाणु बंध रहे हैं – उनका विभाजन ३० समयों में (३० कोडाकोडीसागरोपम के प्रत्येक समय में) करके दिखाया है।

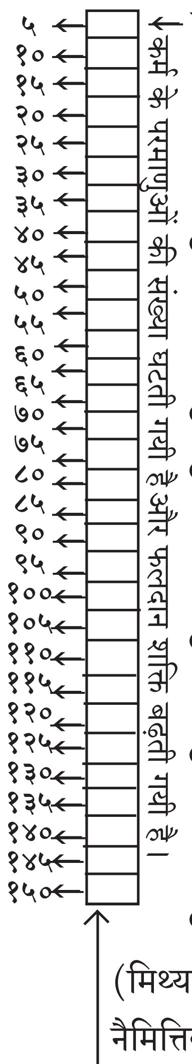

यह एक स्थान १० कोडाकोडी सागरोपम का माना गया है; ऐसे तीस स्थान है अर्थात् ज्ञानावरण का ३० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बताई गयी है।

- बंध के प्रथम समय में १५० परमाणुओं का बंध माना गया है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक समय में अनन्त परमाणु बंधते हैं।
- अंतिम समय में ५ परमाणुओं का बंध बताया है।
- प्रथम समय में कर्म–परमाणु अधिक और अनुभाग (फलदान शक्ति) कम रहता है, यह स्वाभाविक व्यवस्था है।
- अंतिम समय में कर्मपरमाणु कम और (फलदान शक्ति) अधिक रहती है, यह भी स्वभाविक ही है।
- **जैसे प्रदेशबंध समानरूप से प्रतिसमय घटता जाता है वैसे स्थितिबंध और अनुभागबंध समानरूप से बढ़ता जाता है।**
- एक समय में कर्मबंध में निमित्त होनेवाला विभाव भाव (मिथ्यात्वादि बंध का निमित्त) एक प्रकार का होता है और नैमित्तिक कार्य अनेक प्रकार के होते हैं।

१. पहले समय में कम फल, फिर थोड़ा अधिक फल, फिर अधिक, फिर अधिक

- जहाँ हम नया कर्मबंध दिखा रहे हैं, वहीं पूर्वबद्ध कर्म भी चारों प्रकार का विद्यमान है और भविष्य में भी नया कर्म बँधेगा।
- अधिक से अधिक ७० कोडाकोडीसागरोपम काल के पूर्व बाँधा गया कर्म संसारी जीव के पास विद्यमान रह सकता है। **अनादिकाल का कर्म किसी भी जीव के पास सत्ता में नहीं रहता।**
- वास्तविकरूप से सोचा जाय तो बंध मात्र एक समय का है।
- कर्म का स्वभाव (प्रकृतिबँध) वही का वही रह सकता है अथवा बदल भी सकता है – अपने ही उपभेदों में – उदाहरण असाता का साता, मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण।
- भूतकाल में बंधे हुए कर्म आबाधाकाल पूर्ण होने के बाद उदय में आ सकते हैं।
- कुछ जीवों को एक अंतर्मुहूर्त के पहले बँधा हुआ कर्म भी आबाधाकाल पूर्ण होने के बाद उदय में आ सकता है। ●

प्रश्न : वर्तमान में कर्मबन्धन है, हीनदशा है, रागादिभाव भी वर्तते हैं, तो ऐसी दशा में शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?

उत्तर : रागादिभाव वर्तमान में वर्तते होने पर भी वे सब भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। अतः उनका लक्ष छोड़कर त्रिकाली, ध्रुव, शुद्ध आत्मा का लक्ष करके आत्मानुभूति हो सकती है। रागादिभाव तो एक समय की स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा त्रिकाल टिकनेवाला अबद्धस्पृष्टस्वरूप है। इसलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष छोड़कर त्रिकाली, शुद्ध आत्मा का लक्ष करते ही – दृष्टि करते ही आत्मानुभूति हो सकती है।

– ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ ५१

बन्ध में अबन्ध की अनुभूति

बन्धन तभी तक बन्धन है - जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध स्वभावी आत्मा को भूलकर बंधन पर केन्द्रित हो रहा है।

वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बंधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बंधा है। लौकिक बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं।

बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है - पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ?

प्रश्न – बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे संभव है? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है?

उत्तर – सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बंधी ही नहीं।

स्वभाव में बंधन नहीं - इसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतंत्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है; क्योंकि अन्तर में स्वतंत्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन कटने में भी वही समर्थ कारण है।

तीर्थंकर महावीर और उनका
सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ–५७, ५८

२ सत्ताकरण

- पूर्व–संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना **सत्ता** है।
- **सत्ता,** कर्मबंध की द्वितीय अवस्था/करण है।
- शुभलेश्या होने पर सत्ता में स्थित साता–वेदनीय आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि (उत्कर्षण) हो जाती है।

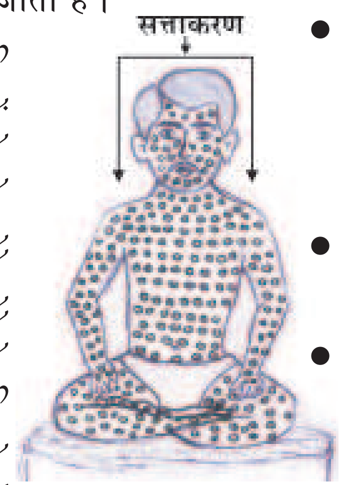

- चित्र में जो अनेक छोटे–छोटे गोल दिखाये गये हैं; वे कर्मों के समूह के हैं।
- वस्त्र पहिनाया है और बाल दिखाये गये हैं, वहाँ भी कर्मों का बंध एवं सत्ता है।

- अशुभलेश्या होने पर सत्तास्थित सातावेदनीय आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में हानि (अपकर्षण) हो जाती है।
- ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की १४८ कर्म–प्रकृतियाँ **सत्त्व** योग्य हैं।
- पुण्य प्रकृतियों की संख्या ६८ है और पापप्रकृतियों की संख्या १०० है। यहाँ २० प्रकृतियों की बढ़ोतरी इसलिए हुई है कि **स्पर्शादि २० प्रकृतियाँ पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं।**
- जीव के विकारी परिणामों का नैमित्तिक कार्य, कर्मरूप परिणमन है।
- जीव का विकारी परिणाम **कर्मबंध** में निमित्त है।
- तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्ववाले जीव, संसार में नित्यमेव **असंख्यात** रहते हैं; नरकों में भी असंख्यात हैं और स्वर्गों में भी असंख्यात हैं।
- **जिन जीवों के एक बार मिथ्यात्व का असत्त्व हो जाता है, उनके फिर से मिथ्यात्व का सत्त्व कभी नहीं हो सकता।**
- तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता **तीसरे नरक पर्यंत ही होती है।**
- तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता ऊपर तो **सौधर्मादि सभी स्वर्गों में है।**

- सत्तास्थित कर्मों की यथाकाल उदय व उदीरणा हो सकती है।
- **असंख्यात आत्मप्रदेशों में अनंतानंत कर्म–परमाणु विद्यमान हैं; तथापि आत्मा उसी समय स्वभाव से ही उन परमाणुओं से अस्पर्शित है।**
- कर्म का बंध होते ही कर्म की सत्ता (सत्त्व, अस्तित्व) बनती है, उसे ही कर्म का **सत्त्वकरण** कहते हैं।
- अनेक समयों में बँधे हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम **सत्त्व** है।
- **सिद्धों को छोड़कर सब जीवों में कर्म की सत्ता पाई जाती है।**
- अरहंत परमात्मा के चार अघाति कर्मों की सत्ता रहती है।
- अरहंतों के भी **असाता वेदनीय कर्म की सत्ता रहती है।**
- कर्मबंध से फल प्राप्ति के बीच की अवस्था **सत्ता** कहलाती है।
- जीव के साथ सत्ता में स्थित कर्म, पदार्थों के संयोगों में अथवा सुख–दुःख देने में निमित्त नहीं होते। इस कारण सत्त्व में स्थित कर्म को मिट्टी के ढेले के समान कहते हैं।
- **सत्त्वस्थित कर्म, कर्मोदय के समय में फल देने में निमित्त होते हैं।**
- सत्त्व, बंध का कार्य है और कर्म का सत्त्व, उदय का कारण है।
- जैसी कर्म की सत्ता है, वैसा ही जीव को फल मिलने का नियम नहीं है; क्योंकि **कर्म का उदयकाल आने के पहले सत्त्वस्थित कर्म में परिवर्तन होने की संभावना रहती है।**
- बँधकरण के जैसे प्रकृतिबँध आदि चार भेद हैं, वैसे ही सत्त्वकरण के भी प्रकृतिसत्त्व, प्रदेशसत्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व – ये चार भेद हैं।
- **तिर्यंचों** में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती।
- एक जीव के भुज्यमान और बद्धमान दो आयु कर्म की सत्ता रह सकती है।
- **नरकों में** देवायु का सत्त्व नहीं रहता।
- देवों में नरकायु का सत्त्व नहीं रहता।

३–४ उदय–उदीरणा

- कर्म की स्थिति पूरी होते ही कर्मों के फल देने को **उदय** कहते हैं।
- अनेक समयों में बंधे हुये कर्म, एक समय में उदय में आते हैं।

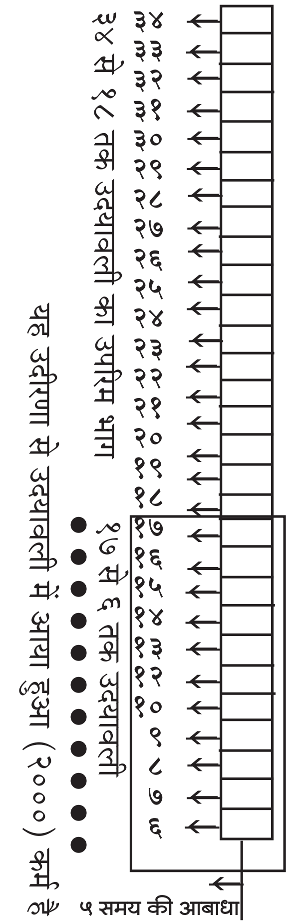

- सुनिश्चित क्रम से कर्म, जीव को फल देते हैं; उसे **उदय** कहते हैं। तत्पश्चात् कर्म, कार्मणवर्गणा आदि रूप परिणमते हैं।
- उदयावली में स्थित कर्म के निषेकों की स्थिति, क्रम से पूर्ण होती रहती है और निषेक फल देते रहते हैं, उसे **उदय** कहते हैं।
- एक आवली काल पर्यंत निषेकों का लगातार उदय आता रहता है, उसे **उदयावली** कहते हैं।
- यहाँ **छठे समय से लेकर १७वें समय पर्यंत के** एक आवली काल को **उदयावली** कहा है।
- माना कि **३४वें** समय में सत्त्वस्थित **१ लाख** कर्म–परमाणु हैं। उनमें से **२०००** कर्म–परमाणु उदयावली में आकर मिलते हैं और अपना यथायोग्य फल देते हैं। अर्थात् कर्मों की स्थिति पूर्ण होने के पहले ही वे उदय में आ जाते हैं। इस प्रक्रिया को **उदीरणा** कहते हैं।
- जिन कर्म–परमाणुओं/निषेकों की उदीरणा हो गयी है; वे उदयावली में आकर मिलते हैं, उदयावली के बाहर नहीं।
- उदाहरण में उदीरणा के कारण दीर्घकाल के बाद उदय आने योग्य २००० कर्मपरमाणु, जीव के विशेष परिणामों से उदयावली में आकर मिल गए हैं; इसे ही **उदीरणा** कहते हैं।
- अपक्व–पाचन को (अकालपाक को) **उदीरणा** कहते हैं।
- उदीरणा के प्रभाव से कर्म–निर्जरा में विशेषता आ जाती है।

- **उदय यथाकाल होता है तथा उदीरणा अयथाकाल।**
- कर्मबन्ध के पश्चात् वह कर्मबन्ध, आवली काल तक उदीरणा आदि के अयोग्य होने से तदवस्थ (यथावस्थित) रहता है।
- **उदीरणा उदीयमान कर्मों की ही होती है।** कहा भी है – उदीरणा, उदय के होते ही होती है। उदय पुण्य का हो तो उदीरणा भी पुण्य की होगी।
- इस उदीरणाकरण के ४ भेद हैं – प्रकृति उदीरणा, स्थिति उदीरणा, अनुभाग उदीरणा और प्रदेश उदीरणा।
- उदय के प्रकरण में जो उदय-व्युच्छिति का कथन है, उसका यह भी प्रयोजन है कि जितनी प्रकृतियों की जहाँ उदय-व्युच्छिति होती है उससे आगे के गुणस्थानों में उन प्रकृतियों के उदयाभाव की तरह उनका उदीरणाऽभाव भी हो जाता है – यह दोनों में समानता है।
- **सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस प्रकृति का उदय होता है, वहाँ उस प्रकृति की उदीरणा भी अवश्य होती है, अन्यत्र नहीं।**
- साता, असाता व मनुष्यायु; इन तीन का उदय तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक सम्भव है, परन्तु इनकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है।
- देवों के उत्पत्ति के समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक साता-वेदनीय, हास्य एवं रति की नियम से उदीरणा होती है, आगे अनियम से होती है। (इससे ज्ञात होता है कि देव, उत्पत्तिकाल के प्रारंभिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से प्रसन्न व सुखी रहते हैं।)
- सातावेदनीय, हास्य व रति का **उदीरणाकाल उत्कृष्ट से छह मास है।**
- **संसारी जीव के उदयकृत परिणामों की अपेक्षा उदीरणा से जो परिणाम होते हैं, उनमें अधिक तीव्रता होती है।**
- मरण के समय के अन्तिम आवली काल में अपनी-अपनी आयु का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
- क्षीणकषाय के काल में दो समयाधिक आवली शेष रहने तक निद्रा-प्रचला का उदय और उदीरणा दोनों होते हैं।
- नारकियों में उत्पत्तिकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अरति, शोक व असाता की नियम से उदीरणा होती है। ●

कर्मोदय का मर्म

प्रभु! कर्म का उदय तो जड़ की पर्याय है और जीव की पर्याय में जो विकारी भाव होता है, वह तो उसे छूता भी नहीं है; क्योंकि उनमें परस्पर अन्योन्याभाव है।

प्रवचनसार की गाथा **१८९** में ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा, विकार का कर्त्ता स्वतः है।

पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से स्वतः है तथा अन्य कारकों से निरपेक्ष है। **अर्थात् जीव की पर्याय में जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं है।**

जैसा कर्म का उदय आता है, उसी के अनुपात में डिग्री टू डिग्री विकार करना पड़ता है – **यह तो दो द्रव्यों की एकता की बात है, जो कि सर्वथा मिथ्या है।**

– प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३७३

विभाव में स्वतंत्रता

प्रवचनसार गाथा ४५ की श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका में तो ऐसा कहा है कि मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव यदि स्वयं शुद्धपने परिणमे तो वह कर्म उदय में आकर खिर जाता है।

अपने वर्तमान पुरुषार्थ की जितनी योग्यता हो, उतना विकाररूप परिणमन होता है।

– प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३७३

५ उत्कर्षण

- कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना **उत्कर्षण** है।
- नूतन कर्म-बंध के समय, पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति में से कर्म परमाणुओं की स्थिति-अनुभाग का बढ़ना, **उत्कर्षण** है। आगे उदाहरण दे रहे हैं-

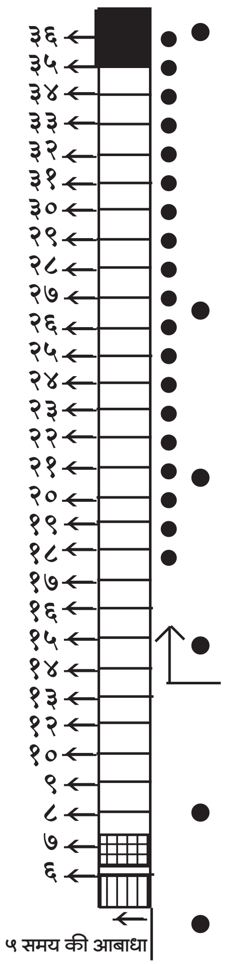

- यथा **१७वें** समय में **(१०,०००)** दस हजार कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार में से जो एक हजार कर्म परमाणु, अधिक स्थिति एवं अधिक अनुभाग वाले नवीन कर्म बंध में जाकर मिलते हैं; उसे **उत्कर्षण** कहते हैं।
- पूर्वबद्ध कर्म में जो निम्न/प्रथमादि समयवर्ती कर्मों के निषेक हैं, उनमें कर्म-परमाणुओं की संख्या अधिक है और फल देने की अनुभाग शक्ति कम रहती है।
- ऊपर-ऊपर अर्थात् अधिक-अधिक स्थितिवाले कर्मों के निषेकों में कर्म-परमाणुओं की संख्या कम रहती और फल देने की शक्ति अधिक रहती है।
- इसतरह कम स्थिति-अनुभाग सहित कर्म, उपरिम (अधिक स्थिति तथा अधिक अनुभागवाले) निषेकों में जाकर मिलते हैं; यही उत्कर्षण है।
- इसकारण उनकी स्थिति एवं अनुभाग स्वयं ही बढ़ जाते हैं - इस कार्य को **उत्कर्षण** कहते हैं।
- यह कार्य घाति-अघाति दोनों कर्मों में जीव के परिणामों के अनुसार हमेशा होता रहता है।
- जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति तत्काल बँधनेवाले कर्म के संबंध से बढ़ना **उत्कर्षण** है। **(ज.ध. ७/२४३)**

- बंधावस्था में स्थित कर्मों में पूर्व की स्थिति या अनुभाग में वृद्धि, **उत्कर्षण** नाम को प्राप्त होती है।
- उदयावली की स्थिति के प्रदेशों का **उत्कर्षण नहीं बनता।**
- उदयावली के बाहर की स्थितियों का उत्कर्षण यथायोग्य संभव है।
- **उत्कर्षण** बंध के समय में ही होता है।
  जैसे ह्न यदि जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कर रहा है तो उसमें सत्ता में स्थित साता वेदनीय के परमाणुओं का ही उत्कर्षण होगा, न कि असाता वेदनीय के परमाणुओं का।
- तेरहवें गुणस्थान पर्यंत **उत्कर्षण** संभव है, आगे नहीं। **(गो.क. ४४२)**
- **सभी कर्म प्रकृतियों में उत्कर्षण करण होता है।**
- उत्कर्षित कर्म की स्थिति, बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है; अधिक कदापि नहीं।
- आयु कर्म में बध्यमान आयु का उत्कर्षण हो सकता है पर भुज्यमान का नहीं। **(ज.ध. १ पृ. १३४)**

●

प्रश्न : मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है?

उत्तर : स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ में बताया है कि स्वलक्ष से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है।।२५।।

– ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ–९२

६ अपकर्षण

- कर्मप्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम **अपकर्षण** है।
- अपकर्षण के द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाते हैं।
- स्थिति-अनुभाग के घटने का नाम **अपकर्षण** जानना।

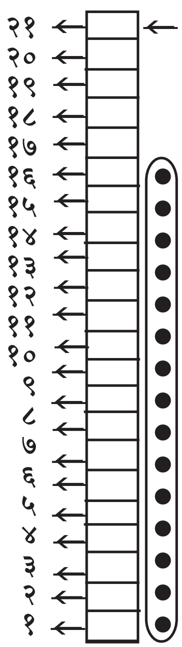

- यथा **२१वें** समय में दस हजार (१०,०००) कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार परमाणुओं में से एक हजार कर्म परमाणु **१६वें** समय से लेकर पहले समय पर्यंत के सभी समयों के कर्म-परमाणुओं में डाले जाते हैं, उसे **अपकर्षण** कहते हैं।
- जीव के विशेष परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों (सत्त्वकरण में स्थित कर्मों) की स्थिति एवं अनुभाग घटते हैं, उसे **अपकर्षण** कहते हैं।
- अपकर्षित कर्म-द्रव्य उदयावली के बाहर (उपरिम भाग में) ही डाला जाता है।
- यदि अपकर्षित द्रव्य उदयावली में डाला जायेगा तो उसे **उदीरणा** नाम प्राप्त होता है।
- अपवर्तन के समय उस कर्म के **नवीन बंध की जरूरत नहीं होती।**
- विवक्षित निषेक का अपकर्षण होने पर वह संपूर्ण निषेक समाप्त होना अनिवार्य नहीं है; किन्तु उस निषेक के कुछ परमाणु ही अपकर्षित करके नीचे की स्थितियों में दिये जाते हैं।
- प्रति समय में जितना द्रव्य नीचे निक्षिप्त किया जाता है, उसे **फाली** कहते हैं।
- आदि स्पर्धक का **अपकर्षण** नहीं होता।

७. संक्रमण

- विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होने को **संक्रमण** कहते हैं।

  जैसे - विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म प्रकृति के परमाणुओं का साता वेदनीयरूप तथा संक्लेश से साता वेदनीय कर्म के परमाणुओं का असाता वेदनीयरूप परिणमन होना।

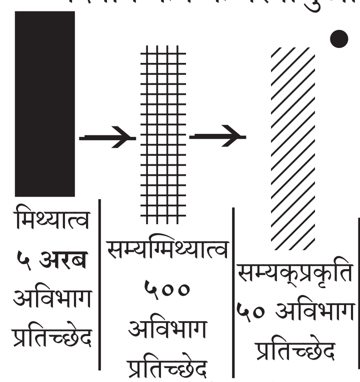

- इसमें भी इतनी विशेषता है कि **१.** मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। २. चारों आयुओं में आपस में संक्रमण नहीं होता। **३.** मोहनीय का उत्तरभेद-दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में संक्रमण नहीं होता। ४. दर्शनमोहनीय के भेदों में एवं चारित्रमोहनीय कर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।
- इसका भावार्थ यह है कि मिथ्यात्व कर्म का संक्रमण, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म में होता है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्म सम्यक्प्रकृति में संक्रमित/परिवर्तित होता है और सम्यक्प्रकृति कर्म, स्वमुख से उदय में आकर दर्शनमोहनीय कर्म पूर्णरूप से नष्ट होता है।
- उसी तरह चारित्रमोहनीय कर्म की भी अनन्तानुबंधी चौकड़ी अन्य १२ कषाय एवं ९ नो-कषायों में संक्रमित (विसंयोजित) होती है। (विसंयोजन होना एक प्रकार से संक्रमण ही है।) संज्वलन क्रोध, मान में बदलता है। मान, माया में, माया, सूक्ष्म लोभरूप में संक्रमित होती है। अन्त में सूक्ष्म लोभ स्वमुख से नष्ट हो जाता है।
- मतिज्ञानावरणादि कर्म, केवलज्ञानावरण में संक्रमित हो जाते हैं।
- केवलज्ञानावरण कर्म मतिज्ञानावरणादि में बदल जाता है।
- एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप संक्रान्त होना **संक्रमण** है।
- कर्मों का यह संक्रमण ४ प्रकार का है। यथा - प्रकृतिसंक्रमण, स्थितिसंक्रमण, अनुभाग संक्रमण और प्रदेशसंक्रमण।

८. उपशान्तकरण

उपशांतकरण एवं उपशम इन दोनों में जो अन्तर/भेद हैं, वह स्पष्ट समझ में आना चाहिए। इसलिए हम यहाँ दोनों को आमने-सामने तुलना के साथ विशदरूप से दे रहे हैं।

- नया बंधनेवाला कर्म कुछ काल तक बद्ध अवस्था में ही रहेगा, इसकी उदीरणा नहीं होगी। इस उदीरणा के अभावरूप सत्तास्थित कर्म की अवस्था को **उपशान्तकरण** कहते हैं।
- **सत्तास्थित कर्मद्रव्य की जब तक उदीरणा नहीं होती तब तक की कर्म की अवस्था को उपशान्तकरण कहते हैं।**

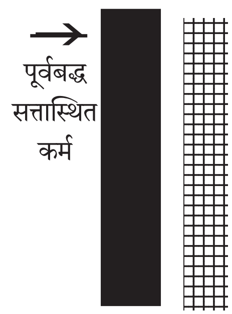

←नया बँधनेवाले कर्म की सत्ता अलग दिखाई गई है।

१. जो कर्म उदय में नहीं आ सके, सत्ता में रहे, वह **उपशांतकरण** कहलाता है।

२. सत्ताविषैं तिष्ठता अपनी-अपनी स्थिति को धरै हैं ज्ञानावरणादिक कर्म का द्रव्य जा विषैं, जाकी जावत् काल उदीरणा न होय तावत् काल **उपशांतकरण** कहिए।

३. उपशांतकरण आठों कर्मों में होता है।

४. कर्म की दस अवस्थाओं में उपशांतकरण है।

५. धर्म (वीतरागता) प्रगट करने के लिए उपशांतकरण कुछ उपयोगी नहीं है।

६. उपशांतकरण भव्य-अभव्य दोनों के होता है।

७. उपशांतकरण अनादि है; क्योंकि प्रत्येक भव्य-अभव्य जीव के कर्म में उपशांतकरण होता है।

८. कर्म में उपशांतकरण यह अवस्था कर्म की अपनी उपादानगत पात्रता से होता है। ●

उपशम

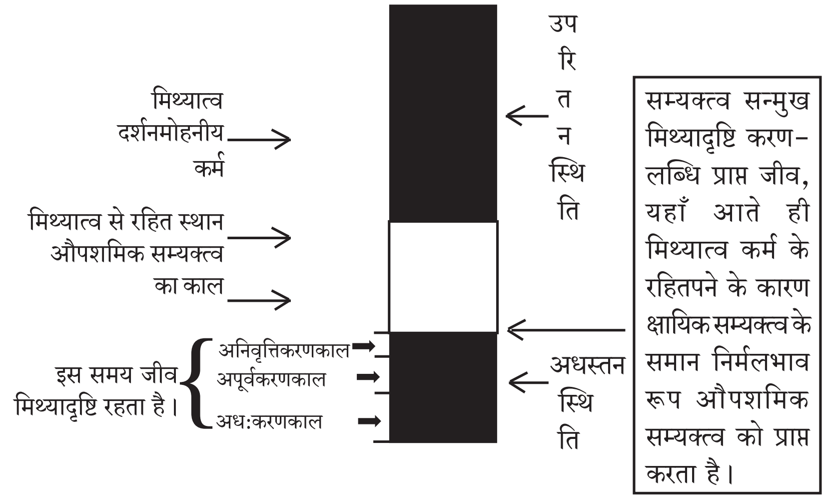

१. आत्मा के विशेष परिणामों के निमित्त से एवं कर्म की निजभक्ति के कारणवश कर्म का प्रगट न होना, **उपशम** है। जैसे - कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है।

२. परिणामों की विशुद्धता से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना, यह कर्म का उपशम है।

३. उपशम मात्र दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म में होता है, अन्य किसी भी कर्म में नहीं।

४. कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशम करण नहीं है।

५. उपशम संबंधी औपशमिक भाव स्वयं धर्मरूप ही है।

६. औपशमिक भाव मात्र भव्य जीवों को होता है।

७. उपशम (कर्म की अवस्था) **सादि** है; क्योंकि किसी भी जीव को धर्म प्रगट होगा तो उसे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमपूर्वक ही होता है।

८. मोहनीय कर्म में उपशम, अध:करणादि धर्मसन्मुख परिणामों से अथवा साक्षात् वृद्धिंगत धर्म परिणामों से होता है। ●

९. निधत्तिकरण

- सत्ता में स्थित जिस कर्म का संक्रमण व उदीरणा नहीं होते, उसे **निधत्ति** कहते हैं। **निधतिकरण आठों कर्मों में होता है।**

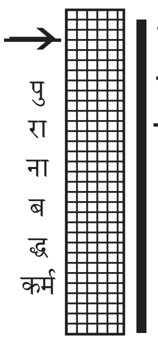

← निधत्ति में उत्कर्षण, अपकर्षण दोनों हो सकते हैं।

← उदय में आकर फल देगा ही, यह विशेषता।

← निधत्ति कर्म-पुण्य-पाप दोनों रूप हो सकता है। **फल देने की मुख्यता है। इसलिए इस निधत्ति को दृढ़तर कर्म कहते हैं।**

- संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को **निधत्ति** कहते हैं।

- कर्म का संक्रमण नहीं होता, इसका अर्थ जब जैसा पुण्य अथवा पापरूप से कर्म बंधा हुआ है; वह उसीरूप में अर्थात् पाप, पापरूप में ही रहेगा वह पुण्यरूप संक्रमित नहीं होता।
- दूसरी बात यह समझना चाहिए कि निधत्तिरूप कर्म की उदीरणा नहीं होगी अर्थात् यह अपने सुनिश्चित समय के पहले उदय में आकर फल नहीं देगा।
- आठवें गुणस्थान के पहले का निधत्ति कर्म फल दिए बिना नहीं रहेगा, यह नियम है। नौवें गुणस्थान में निधत्तिरूप कर्म का नियम से नाश होता है।
- निधत्तिरूप कर्म में उत्कर्षण होता है; इसका अर्थ जो जिस फलदानरूप शक्ति से सहित अथवा जिस समय में फल देना है, वह समय की अवधि/काल मर्यादा बढ़ सकती है; तथापि फल जिस स्वभावरूप से बँध गया है, उसी स्वभावरूप से फल देगा। **स्थिति-अनुभाग में बदल हो सकता है।**

- इसलिए निधत्तिरूप कर्म दृढ़तर कर्म कहे जाते हैं। जैसे - सती सीता का वर्तमानकालीन जीवन पवित्रता में आदर्शरूप होने पर भी उनको पूर्वजन्म के निधत्तिरूप पापकर्म के कारण ही वनवास का प्रसंग, अग्निपरीक्षा, गर्भावस्था में वनवास इत्यादि पापमय फल मिलता रहा।
- यदि पुण्यमय निधत्तिकर्म नहीं होता तो शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे जीवों को कामदेवत्व, चक्रवर्तित्व और तीर्थंकर पद ऐसे सर्वोत्तम पुण्य के पदों की प्राप्ति कैसे हो जाती?
- निधत्तिरूप कर्म, जीव को फल देता ही है, यह कथन सापेक्ष है।
- **यदि जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करता है तो कर्म का निधत्तिपना नियम से नष्ट होता है; ऐसा कर्मकाण्ड गाथा ४५० में कथन आया है।** इस विषय को मूल से अवश्य देखना चाहिए, जिससे जीव को कर्म का भय नष्ट हो जाता है।

निधत्ति को ही अन्य शब्दों में फिर से स्पष्ट कर रहे हैं -

"संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं;" यह मूल परिभाषा है।

परिभाषाकार आचार्यों ने निधत्ति कर्म किस-किस करण के लिए अयोग्य है, इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

हम यहाँ इस परिभाषा के आधार से ही यह निधत्ति कर्म किस-किस कार्य के लिए योग्य है, यह जानने का प्रयास करते हैं; जिससे हमें आचार्यों के कथन का भाव स्पष्ट समझ में आ सकें।

१. पहला विषय - यह प्रतीत होता है कि इस प्रकृति का बंध तो हुआ ही है। यदि बंध ही नहीं होता तो इस कर्म की सत्ता कैसी बनती? अर्थात् बंधरूप कार्य हुआ ही है; यह विषय स्पष्ट हुआ है।

२. दूसरा विषय - यदि कर्म के बंध का स्वीकार हुआ है तो बंध के

फलस्वरूप/कार्य इस निधत्तिरूप कर्म की सत्ता भी सहज ही सिद्ध हो जाती है।

३. अब तीसरा करण है उदय। उदय तो होगा ही; क्योंकि निधत्ति **कर्म का उदय नियम से होता ही है; इस कारण से ही इस कर्म को फल देने में दृढ़तर कहा है।**

४. उदीरणा करण का निषेध तो परिभाषा में ही किया है; इसलिए निधत्ति कर्म की उदीरणा नहीं होगी।

५. उत्कर्षण एवं अपकर्षण – ये दोनों करण निधत्तिरूप कर्म में होते हैं; क्योंकि परिभाषा में इनका निषेध नहीं किया है। उत्कर्षण और अपकर्षण – ये दोनों करण निकाचित में ही (निधत्ति में होते हैं।) नहीं होते।

६. संक्रमणकरण का प्रतिषेध परिभाषा में किया है। अतः निधत्तिरूप कर्म में संक्रमण भी नहीं होगा।

७. उपशांतकरण होगा; क्योंकि निधत्तिरूप कर्म का बंध होने के बाद यह निधत्तिरूप कर्म कुछ काल पर्यंत जीव के साथ रहेगा ही।

फिर **प्रश्न** हो सकता है कि किसी जीव का निधत्तिकर्म फल दिये बिना भी नष्ट हो सकता है क्या?

इसका **उत्तर** यह है कि **जो जीव अपने विशेष पुरुषार्थ से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करते हैं, उनके निधत्ति कर्मत्व का नाश होता है, अर्थात् उनका निधत्तिपना नष्ट होकर वे निधत्तिरूप कर्म, सामान्यकर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। (निकाचितकरण में भी निधत्तिकरण का खुलासा आया है।)**

●

१०. निकाचितकरण

संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के लिए अयोग्य प्रकृतियों को **निकाचितकरण** कहते हैं।

← संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण – ये चारों करण निकाचित कर्म में नहीं होंगे।

← निकाचित कर्म में फल देने की मुख्यता रहती है।

← **निकाचित कर्म का उदय होगा ही।**

← **इसलिए निकाचित कर्म को दृढ़तम कहते हैं।**

← निकाचित कर्म पुण्य–पाप दोनोंरूप होता है।

निकाचित कर्मों को दृढ़तम कर्म माना जाता है; क्योंकि इस कर्म में चार प्रकार की योग्यता नहीं है और ये **कर्म उदय में आयेंगे और फल देंगे ही देंगे।**

पहली बात यह है कि यह कर्म पापरूप से बंध गया अथवा पुण्यरूप से बंध गया, वह वैसा का वैसा ही रहेगा; उसमें परिवर्तन की बिल्कुल सम्भावना नहीं है। **जिस प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप से कर्म बद्ध हो गया है, वह कर्म उसी रूप (अवस्था) में रहते हुए सुनिश्चित समय पर पूर्णरूप से फल देगा।**

दूसरी बात – स्थिति–अनुभाग कम होने की सम्भावना के लिए कुछ अवकाश ही नहीं है; क्योंकि परिभाषा में ही कर्म के उदीरणा की भी अयोग्यता स्पष्ट रूप से बताई गयी है। अपकर्षण और उदीरणा के कारण ही कर्मों के स्थिति–अनुभाग घटते हैं।

तीसरी बात – पूर्वबद्ध कर्म में स्थिति–अनुभाग बढ़ने के लिए भी मानो रोक ही लगा दी गयी है; क्योंकि उत्कर्षण (स्थिति–अनुभाग का बढ़नेरूप कार्य) का अभाव भी परिभाषा में विशद शब्दों में बताया है।

चौथी बात – पूर्वबद्ध कर्म में अपकर्षण के कारण स्थिति–अनुभाग घटते तो भी कुछ अवकाश मिलता, लेकिन अपकर्षण के कारण स्थिति–अनुभाग के कम होने का भी अवसर नहीं है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि बंध आदि दस करणों में से बंध तथा सत्तारूप कार्य पहले ही हो चुके हैं। अब फिर से इस कर्म के लिए बंध, सत्ता होने का काम नहीं। संक्रमण आदि चार करणों का तो निकाचित के स्वरूप में ही निषेध है - इन छहों (बंध, सत्ता, संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण) में से सबको मानो प्रवेश के लिए ही पाबंदी है। उपशांतकरण गर्भित कर्म भी (उदय के पहले अर्थात् सत्तारूप अवस्था में अवस्थित कर्म) मिट्टी के ढेले के समान ही है; क्योंकि न उसका उदय आयेगा न उदीरणा होगी। यह करण वर्तमान में निष्क्रिय ही है।

निधत्तिकरण का कार्य भी निकाचितकरण स्वयं कर रहा है। ऐसी अवस्था में अब निकाचित कर्म प्रकृतियों को **उदय में आना छोड़कर अन्य कोई मार्ग/उपाय ही नहीं है।**

इसलिए पुण्य या पापरूप से पूर्वबद्ध निकाचित प्रकृतियों का मात्र **उदय में आकर फल देना ही काम रहता है।** इसकारण ही सुकुमार, सुकौशल, गजकुमार, पंचपांडव आदि भावलिंगी मुनिराजों को भी पापरूप निकाचित प्रकृतियों का फल भोगना अनिवार्य हो गया था।

इसीप्रकार भरत चक्रवर्ती आदि तद्भव मोक्षगामी पुरुषों को भी निकाचितरूप पुण्यकर्म का फल भोगना अनिवार्य हो गया था। इसी कार्य को 'नियोग' शब्द से भी कहा जाता है।

इसका अर्थ निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्मप्रकृतियों का फल भोगना ही अनिवार्य है; ऐसी धारणा समाज में अति दृढ़ हो गयी है; तथापि यह बात सर्वथा इस ही प्रकार की नहीं है।

कर्म में निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्म का फल भोगना ही अनिवार्य है, यह सापेक्ष कथन है। इसकी दूसरी विवक्षा भी हमें शास्त्र के आधार से समझना आवश्यक है।

खेद इस विषय का है कि **समाज को दूसरी विवक्षा का ज्ञान कराया ही नहीं जाता। मात्र कर्म बलवान ही है; यही समझाया जाता है।**

निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का नाश भी जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करके करता है, यह विषय बताया ही नहीं जाता।

आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ४५० में - निम्नप्रकार का विषय आया है **"ये तीनों (उपशांत द्रव्यकर्म, निधत्ति तथा निकाचित कर्म) प्रकार के कर्म अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यंत ही पाये जाते हैं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के तीन करण युगपत् व्युच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।"**

जयधवला पुस्तक १३, पृ. २३१ पर भी यह विषय आया है। उसका हिन्दी अनुवाद हम आगे दे रहे हैं -

"उसी अनिवृत्तिकरणकाल के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरण व्युच्छिन्न होते हैं।

सभी कर्मों के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही ये तीनों ही करण युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

उसमें जो कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के योग्य होकर पुनः उदीरणा के विरुद्ध स्वभावरूप से परिणत होने के कारण उदयस्थिति में अपकर्षित होने के अयोग्य है वह उस प्रकार से स्वीकार की गई अप्रशस्त उपशामना की अपेक्षा **उपशान्त ऐसा कहलाता है। उसकी उस पर्याय का नाम अप्रशस्त उपशामनाकरण है।**

इसी प्रकार जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृतिसंक्रमरूप न हो सकने की प्रतिज्ञारूप से स्वीकृत है उसकी उस अवस्था विशेष को **निधत्तीकरण** कहते हैं।

परन्तु जो कर्म उदयादि इन चारों के अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध है, उसकी उस अवस्थान लक्षण पर्यायविशेष को **निकाचनाकरण** कहते हैं।

इसप्रकार ये तीनों ही करण इससे पूर्व सर्वत्र प्रवर्तमान थे, यहाँ अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी व्युच्छित्ति हो जाती है। **इनके व्युच्छिन्न होने पर सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और पर प्रकृतिसंक्रमण इन चारों के योग्य हो जाते हैं यह इस सूत्र का भावार्थ है।"**

।। नक्शों में दशकरण समाप्त ।। ●

शास्त्राभ्यास से लाभ

१. **ज्ञान से** ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

२. **ज्ञान से** ही कषायों का अभाव हो जाता है।

३. **ज्ञानाभ्यास से** माया, मिथ्यात्व, निदान ह्न इन तीन शल्यों का नाश होता है।

४. **ज्ञान के अभ्यास से** ही मन स्थिर होता है।

५. **ज्ञान से** ही अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

६. **ज्ञानाभ्यास से** ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।

७. **ज्ञानाभ्यास से** ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।

८. **ज्ञान से** ही जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।

९. **ज्ञान से** ही जिनधर्म की प्रभावना होती है।

१०. **ज्ञान के अभ्यास से** ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप कर्म का ऋण नष्ट हो जाता है।

११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को **ज्ञानी** अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।

१२. **ज्ञान के प्रभाव से** ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।

१३. **ज्ञानाभ्यास/शास्त्राभ्यास से** ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।

१४. **ज्ञान से** ही भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।

१५. **ज्ञान से** ही परमार्थ और व्यवहार दोनों व्यक्त होते हैं।

१६. **ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।**

१७. **ज्ञान ही** दुःखित जीव को सदा शरण अर्थात् आधार है।

१८. **ज्ञान ही** स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।

१९. **ज्ञान धन** को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।

२०. **ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान निरन्तर बढ़ता ही जाता है।**

२२. **ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।**

(आधार – रत्नकरण्ड श्रावकाचार : पं. सदासुखदासजी कृत अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना)